प्रथम अध्याय Chapter-1

स्वोत्र शब्द का अर्थ ,उत्पत्ति एवं उसका वैदिक रूप

स्वोत्र शब्द का अर्थ ,परिभाषा एवं लक्षण

भारतीय जीवन मूलत: आध्यात्मिक है । देश की प्रत्येक परिस्थिति में भारतीय आध्यात्मिकता ने अपने को अक्षुण्ण रखा है । धर्म और आध्यात्मिकता की शक्ति ने ही भारतीय समाज को शताब्दियों के निरन्तर उत्पीड़न के बीच भी अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने की क्षमता प्रदान की है । धर्म और आध्यात्मिकता की प्रधानता के कारण ही अनेक राजनैतिक आक्रमण एवं विदेशी सम्पर्क भी इस देश की सांस्कृतिक अवस्था में आधार भूत परिवर्तन अथवा विकृति नहीं ला सके हैं ।

भारतीय आध्यात्मिकता के मूल उत्स वेद हैं । इसलिये भारतीय स्वोत्र साहित्य का आरम्भ भी वेदों से ही होता है । आर्यों के उपासना विषयक् स्वोत्रों का विशाल वाङ्मय ऋग्वेद में उपलब्ध होता है । उनके उपासना मंत्रों में इन्द्र , मित्र,अग्नि वरुण एवं मरुत् आदि देवताओं का आवाह्न और स्तवन किया गया है और उन्हें ब्रह्म का ही रूप भी माना गया है :—

इन्द्रं ,मित्र ,वरुणमग्नि माहुर थोदिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं,यमं मातरिश्वा माहु : ।।ऋग्वेद १,२।१६४

वैदिक ऋचायें मानव हृदय की स्थायी भावानुभूतियों से अनुप्राणित हैं । इन ऋचाओं में दो प्रकार की चेतना स्पष्ट लक्षित होती है — एक ब्रह्म विषयक जिज्ञासा की और दूसरी ईश्वर — प्रेम की । दोनों की अभिव्यक्ति की शैली अनिवार्य रूप से पृथक् हो गई है ।[1]

---

1. The hymns are inspired by what is perhaps and abiding sentiment of the human heart, but while the devotinal spirt of the god seeker (divaya) and god lover(deva-kava) in that far-offis nearly the respective theme and mode of expression are necessarily divergent.
   S.K. De : Aspects of Sanskrit Literature Page 101

2. Far older than the literary monuments of any other branch of the Indo-European family, is already distinguished by refinement and beauty of thought, as well as skill in the handling of language and metre.
   Mac Donnel ,A History of Sanskrit Literature Page 29

मैकडानल जैसे विद्वानों का कहना है कि भारोपीय परिवार में ऋग्वेद प्राचीनतम साहित्य तो है ही, साथ ही वह विचारों के सौष्ठव और परिष्कार तथा भाषा एवं छंद-प्रयोग के कौशल की दृष्टि से भी अन्यतम है ।[1] ऋग्वैदिक संहिता में इस बात का[2] वेदों के विषय में भगवान श्री कृष्ण ने श्री मद्भागवत् के एकादश स्कन्ध में कहा है कि वेदों में केवल तीन कांड हैं — कर्म, उपासना और ज्ञान । इन तीनों कांडों में ब्रह्म और आत्मा की ही एकता का विवेचन किया गया है । सभी मंत्र और व्याख्याताओं ने इसका विवेचन परोक्षवादी शैली में किया है । यथा —

वेदा ब्रह्मात्म विषय स्त्रि कांड विषयाइमे ।

परोक्षवादा ऋषय: परोक्षं मम च प्रियम् ।।३५।। ए०स्क० पृ० ८३८— ३६

भगवान श्री कृष्ण ने आगे कहा है — " मैं अनंत शक्ति एवं तेज सम्पन्न एवं ही अनन्य ब्रह्म हूं । मैंने ही वेदों का रचना विधान किया है । जिस प्रकार कमल — नाल में एक नाल सा सूत्र होता है वैसे ही वेद — वाणी प्राणियों के अन्त:करण में एक अनाहत नाद के रुप में प्रकट होती है । वास्तव में सभी श्रुतियां कर्म कांडादि में मेरा ही अनुमोदन करती हैं । उपासना में सदैव मेरा ही स्तवन होता है और ज्ञान कांड में भी आकाशादि वस्तुओं का आरोप कर के मेरा ही गुण गान किया जाता है । समस्त श्रुतियां एवं ऋचायें मेरा ही आश्रय लेकर मुझमें भेद का आरोप करती हैं । माया का रुप देकर वे सब मुझमें लीन हो जाती हैं ।"[3] भागवत में यह भी कहा गया है कि ब्रह्म का अस्तित्व ठीक — ठीक वही निर्धारित कर सकता है जिसने ब्रह्म का ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लिया हो, क्योंकि जब तक ब्रह्म का यथार्थ अनुभव हमें नहीं होता तब तक उसकी वास्तविक परिभाषा कैसे की जा सकेगी ? ब्रह्म का अनुभव ही ब्रह्म ज्ञान है जिसे आत्म — शुद्धि एवं परिष्कृत अन्त:करण से प्राप्त किया जा सकता है । पाखंडादि

---

१. Mac Donnel ; A History of Sanskrit Literature Page 29

२. ऋग्वेद संहिता पृ०

३. मयो प्रवृत्तिं मुक्त्वा ब्रह्मणानन्त शक्तिना , भूतेषु घोष रुपेण विसेषूर्णे व लक्ष्यते ।।३७।। एका० स० वही

मा विधत्ते ऽभिधन्ते मां विकल्प्यौह्यते त्वम् ।

एतावान् सर्व वेदार्थ : शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।।

माया मात्र मनूद्याते प्रति. विध्य प्रसीदति ।।४३।। एका० स्क० वही पृ०८३८—३६

की कामना एवं भावना मनुष्य मात्र को ब्रह्म के सन्निकट नहीं पहुंचा सकती । वह तो अन्त:करण की शुद्धतम प्रकृति से ही अनुभव किया जा सकेगा । यद्यपि वेदों में ब्रह्म का गुणानुवाद विभिन्न रुपों में हुआ है परन्तु सब रुपों के मूल में एक ही रुप की अभिव्यक्ति हुई है । वह अनेक रुप होकर भी एक है । निरुक्तकार यास्क ने वेदों के इस आत्म मूलक देव = तत्त्व का निरुपण करते हुए स्पष्ट किया है कि देवता गण उस की उपासना एक मानते हुए भी विभिन्न रुपों में करते हैं जिसकी उपासना जलचर, नभचर एवं थलचर तक करते हैं । [१] अरविन्द ने भी इसी मत का समर्थन किया है । अग्नि, मरुत, इन्द्र आदि सब उसी के नाम हैं । उसमें समस्त देवताओं का आदि स्थान है । वह आदि पुरुष है । [२] वेद में ब्रह्म के अनुभव को अनेकानेक प्रतीकों से अभिव्यक्त किया गया है । इन्हीं प्रतीकों में एक बड़ा विलक्षण प्रतीक व्रात्य है । डा० सम्पूर्णानंद ने यजुर्वेद के " व्रात्यकांड " की अपनी = टीका में सिद्ध किया है कि इस कांड में " व्रात्य " के रुप में परमात्मा का ही स्तवन किया गया है ।

---

१. माहाभाग्य देवताया: एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्य आत्मनोऽन्य देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अपि च सत्वानां प्रकृति भूमभि: ऋषय: स्तुवन्ती त्याहु: । प्रकृति सार्वनाम्तया च्वेतरेतर जन्मानो भवन्ति, इतरेतर प्रकृतय: कर्म जन्मान: आत्म जन्मान: । आत्मैव एषां रथो भव त्यात्मा अश्व आत्मा आयुधम् आत्मा इषव: आत्मा सर्वं देवस्य ।।

निरुक्त, यास्क

2. In the Vedas all these poses are asserted of the Gods. In essence the Gods are one existence which the Sages call by different names ; but in their action founded in and proceeding from the large truth and Right Agni or another is said to be all the other gods, he is one that becomes all , at the same time he is said to contain all the gods in himself as the name of a wheel contains the spokes, he is the one that contains all, and yet as Agni he is described as seperate deity, one who helps all the other, exceeds them in force and knowledge, yet is inferior to them in Cosmeposition and is employed by them as messenger priest and worker- the creator of the world and Father he is yet the son born of our works, he is that is to say the original and the manifested in dwelling self or Divine the one that inhabits all.

Sri Aurobindo ; The Life Divine page 144-145

` रुद्र भी व्रात्य का ही एक रूप मात्र है जो संसार का कल्याण करता है । यजुर्वेद के रुद्राध्याय में 'नमो व्रात्याय' कहा गया है । 'यो देवानां प्रभवस्य' जो देवों का उद्गम स्थान है ।नारदीय सूक्त में कहा गया है = ` आनीदवात ` अर्थात् बिना हवा के साँस लेने वाला । इस वाक्य से उसकी निश्चेष्टता का खंडन होता है =` उसने प्रजापति को प्रेरित किया ` का अर्थ है उसने प्रजापति का रूप धारण किया,अपने में गुप्त प्रजापति रूपको प्रकट किया । नारदीय सूक्त में आगे कहा है = ` तपस्तन् महिमा जायतैकम् ` अर्थात् महान् तपस्या के प्रभाव से एक महान शक्ति उत्पन्न हुई जिसके गर्भ में भावी जगत विचार के रूप में स्फुरित होता है । पूर्वकाल में किए हुए तप के प्रभाव से आद्या शक्ति प्रसाद प्राप्त कर के जो अजानदेव जगत का संचालन कर रहे हैं, जिन मनुओं और महर्षियों ने धर्म = कर्म की मर्यादा स्थापित की है और आज कलजो योगी हैं यह सभी त्रिगुणातीत हैं । अत: इन सब को व्रात्य कहते हैं । जो असंख्य शक्तियाँ जगत का निर्वाह कर रही हैं, उनके समुच्चय का नाम धनु धन्वा है । `रुद्र ` शब्द `रु ` और `द्र ` के मिलने से बना है और `द्र ` और `द ` तथा `र `के मिलने से जो शब्द बनता है वह `रु `है अर्थात् जो `ऊँकार` रूपी नाद स्वरुप है वह `रु `है जो `र् ` अर्थात् `रुचि `देता है वह `द्र `है । दोनों को मिला कर जो नाद रूपी है और धन देता है अर्थात् मुक्ति और योग दोनों का दाता है वह `रुद्र ` है । उस रुद्र का ही एक रूप ` इन्द्र ` भी है । ` इन्द्र ` देवराज है अत: इन्द्र का नाम लेने से विष्णु अग्नि ,यम आदि का भी भेद स्पष्ट हो जाता है क्योंकि यह सब उसी इन्द्र के प्रति रूप हैं । जिस प्रकार ग्रह – नक्षत्र और ऋतुयें संवत्सर के समीप रहती हैं उसी प्रकार सब देवगण उस व्रात्य के चारों और (भृत्यवत्) रहते हैं । उपनिषद् का कथन है कि जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में मिल कर अस्त हो जाती है और अपना पृथक् नाम रूप छोड़ देती हैं, उसी प्रकार नाम, रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है । [१] यास्क ने भी वेदों के मत का समर्थन किया है ।[2]

<u>वेदों में स्तोत्र शब्द के पर्याय और रूप</u>

वैदिक आर्यों ने ब्रह्म का गुणानुवाद भिन्न रूपों में किया है जिसमें उनकी

---

१. व्रात्य कांडम् श्री सम्पूर्णा नंद

2. आगे

समर्पणात्मक भावना निहित है । ये रूप ही वैदिक = साहित्य में स्तोत्र, उद्गीथ, शास्त्र और स्तोत्र कहलाते हैं । "उद्गीथ" के विषय में नगेन्द्र नाथ बसु ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि "उत्" से = अर्थ "साम गान का अवयव भेद । साम के पंचावयव अवयव होते हैं ।[1] प्रस्ताव २ = उद्गीथ ३ = प्रतिहार ४ = उपद्रव ५ = निधन ६ = हिंकार ७ = प्रणव । उद्गाता जो साम गाता है वही "उद्गीथ" कहलाता है ।[2] ३ = साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स में भी "उद्गीथ" को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है ।[3] छान्दोग्य में इस प्रकार लिखा है = "उत" स्वर्ग "गी" आकाश और "थ" पृथ्वी है । "उत" सूर्य "गी" वायु और "थ"

---

१. ईश: । पति: । यज्ञ: । वेन: । मेघ: ।। कुवि: ।।मुनि: विभु: ।। प्रभु: ।
शंभु: ।।रातु: । भुवनम् । भविष्यत् । भव्य: ।।महत् । व्योम । यश: । मह: ।
स्वर्णीकम् ।। स्मृतीकम् स्वर्णिकम् ।। सतीनम् । गहनम् । गभीरम् । गह्वरम् कम । अन्नम् ।
हवि: । सदनम् सद्मनम् ।। ऋतम् ।। योनि: । ऋतस्य योनि: । सत्यम् । नीरम् । हवि: ।।
रयि: ।। सत्पुरीणम् ।।स्वर्णम् ।। गर्भम् ।। वह्नि: ।। नाम ।।सर्पि: ।। अप: । पवित्रम् ।।
अमृतम् ।। इन्दु: ।। हेम ।।स्व:सर्ग: । शम्बरम् ।।अम्बरम् ।। वियत् ।। व्योम ।। बर्हि: ।।
धन्व । अन्तरिक्षम् ।।आकाशम् । आप: । पृथिवी ।। भू: ।। स्वयंभू: । अध्वा ।।पुष्करम् ।।
सगर: ।।समुद्र: ।। तप: ।।तेज: ।। सिन्धु: ।। अर्णव:नाभि: ।। ऊध: ।।[illegible] ।।वस्तु ।।
किम् ।। ब्रह्म ।। वरेण्यम् ।। हंस: ।। आत्मा भवति ।। वर्धमानस्यानाम् ।।यत्र हिरण्य
शरीराणि । अन्यत्र संस्कुरुते । यत: आत्मा भवति ।।वेद में तन्वम् ।।

सामवेद संहिता पृ० २६

२. नगेन्द्र नाथ बसु-हिन्दी शब्द कोश पृ० २५७

3." Representing under the form of a contest of the devas and ashas (ur) in song (Udgita) the antogonism of good and evil."

Encyclopaedia of Religion & Ethics XIX Chapter 3
Pages 543.

आग्नि
पृथ्वी है । `उत्तु `क्षुधी `भी.वायु और `थ `अग्नि है । `उत `सामवेद `भी `यजुर्वेद और `थ `ऋग्वेद है ।[1] `उक्थ ` के विषय में श्री नगेन्द्र नाथ वसु ने अपने शब्द कोश में दिया है ` सामवेद का एक `गान ` क्रिया = संस्कार में एक प्रकार का पठन व उच्चरित पाठ । यह प्राय: परिपाटी निर्मित करता है और `साम `तथा `यजु: ` के प्रतिकूल चलता है ।[2] `स्तोत्र उदगीय[3] उक्थ[4] शास्त्र[5] एवं स्तोत्र के विषय में अन्य विद्वानों के भिन्न मत हैं ।

स्तोत्र = शब्द की व्युत्पत्ति

` स्तोत्र `शब्द `स्तु ` धातु से बना है । इसके लिए कहा गया है = `प्रगीत मन्त्रसाध्य स्तोत्रम् `। किसी देवता का छन्दो बद्ध स्वरुप कथन या गुणकीर्तन अथवा स्तवन `स्तोत्र ` कहलाता है । स्तोत्र के चार भेद हैं = द्रव्य स्तोत्र , कर्मस्तोत्र, विधि स्तोत्र,अभिजन स्तोत्र ।।[8] इसके रुप विभिन्न लकारों में निम्नलिखित रुपों में चलते हैं =

स्तौति,स्तवीति,स्तुते । स्तौतु,स्तवीतु,स्तुताम् ,स्तुयात: स्तुवीत । अस्तौत, अस्तुत,तुष्टाव,तुष्टुवे । अस्तावीत,अस्तोष्ट,स्तोता,स्तोष्यति = ते,स्तूयात,स्तोषीष्ट, अस्तोष्यत स्तुयते ।।[9]

१, छान्दोग्य १ पृ० ३

२, नगेन्द्र नाथ वसु , पृ० १५२

३. A hymn of praise, Vases which are sung Pages 1259.

४. A variety of Arya metre (consisting of four lines of twelve fifteen, twelve and lighteen instants) page 187.

५. A kind of recitation or certain recited verses forming a subdivision of the Sastra (Page 172)

६. Any sacred book or composition of Divine authority page 1069.

७. A hymn, it consisting of five parts (Prastava Udjitha, Pratihar, Updrava, Nidhan) page 1259. Sir Monier Monier William .. A Sanskrit English Dictaoner;

८, डा० राम उजागर पांडेय । हिन्दी साहित्य कोश पृ० ८८५

प्रधान सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा ।

९, डा० बाबू राम सक्सेना , हाई स्कूल संस्कृत व्याकरण पृ० २१६ = २०

to ब after preposition ending in

।ई। ।उ। स्तुत । स्तु =

कर्मणा = क्त: ।[1]

वेदों में देवताओं को हविर्भाक् होना माना गया है और इनके लिए जिन मंत्रों का प्रयोग हुआ है वे निम्नलिखित कोटि के हैं ––

१. भजन   २. स्तोत्र   ३. शास्त्र

' स्तोत्र ' तथा ' शास्त्र ' नामक मंत्रों में देवताओं का हविर्भाक् होना आवश्यक नहीं है । स्तुति = स्थल में स्तोतव्य वस्तुओं में गुणों के संबंध को दिखा कर ही वक्ता के यत्न का अंत हो जाता है फिर उसका कोई कार्यान्तर नहीं देखा जाता और स्मरण स्थल में प्रयोजनान्तर के लिए वस्तु के गुणों का अभिधान या कथन मात्र होता है । अर्थात् वहां वाक्य गुणों के कथन के अनन्तर किसी इष्ट अर्थ को प्रकाशित कर के विकृत होता है । [2]'जैमिनीय मीमांसा' ने भी इसे स्पष्ट किया है । [3] इस सूत्र से 'स्तौति' एवं 'शंसति ' धातुओं की वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है । यदि स्तौति एवं शंसति धातुओं की स्मरणीयकता कल्पित की जाय तो 'स्तुति 'रुप के और अर्थ का बोध हो जायगा । वास्तव में स्तोत्र = प्रगीत मंत्र साध्या स्तुति: स्तोत्रम् ।। शास्त्र = अप्रगीत मंत्र साध्या स्तुति: स्तोत्रम् ।।

आप्टे ने अपने संस्कृत व्याकरण में स्तोत्र शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट की है । [4] यह नपुंसक लिंग शब्द है । इसका पुल्लिंग शब्द ' स्तव: ' है । [5] इसी से 'स्तवन' अथवा स्तुति शब्द का रूपान्तर हुआ है ।

स्तोत्र लिखने का उद्देश्य = वैदिक कालीन आर्य अपने देवताओं के प्रति आत्म = समर्पण करता है तो उन्हें अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से परिवेष्टित भी कर लेता है । इस

---

१. आप्टे : संस्कृत व्याकरण पृ० १७१५ । २. नि० अ० १ पा० ५ खंड १

३. प्रउगंशासति आज्यै: स्तुवते । अपिवाश्रुति = संयोगात् प्रकरणे स्तौति = शंसति क्रियोत्पत्ति विदुध्यातास् ।। जैमिनीय मीमांसा अ० २ पा०१ खंड ४

४. 'स्तोत्र 'शब्द 'स्तु' धातु एवं 'ष्ट्रन् 'प्रत्यय से बना है क्योंकि सकलगणवरिष्ठ: पुष्प दन्ता मिधानो रुचि रमल ध्रुवे स्तोत्र में तच्चकार

शिव महिमा: स्तोत्र ३३ = आप्टे संस्कृत व्याकरण पृ० १७१६

५. द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी, शब्दार्थ परिजात ।

प्रकार के आत्म = समर्पण के द्वारा वह उन से अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता है । इसी भावना से वैदिक आर्य के आत्म समर्पण में पूर्ण रूपेण श्रद्धा = भावना का अनुभव किया जा सकता है । ज्यों = ज्यों मनुष्य सभ्यता की दौड़ में आगे बढ़ने लगा, त्यों त्यों वह इस शक्ति की विकरालता का अनुभव करने लगा । केवल विकरालता ही नहीं उसने देखा कि यह शक्ति अनेक रूपा है = इसकी पूजा होनी चाहिये । यहीं से उपासना के भय - मूलक रूप की सृष्टि आरम्भ हुई । मनुष्य का मन कुछ और आगे बढ़ा और उसने देखा कि विकराल शक्ति की पूजा हो रही है तो भी भय जनक अवस्था का अन्त नहीं होता । तब उसने अनुभव किया कि केवल वह विकराल शक्ति भर ही सब कुछ नहीं है कुछ और है जो इसकी पूजा के बिना संसार की रक्षा कर रहा है और पूजा न होने पर संसार का नाश कर सकता है । वह अकेले ही पैदा कर सकता है, अकेले ही रक्षा कर सकता है, अकेले ही संहार भी कर सकता है । हवा उसी के इशारे पर नाच रही है, समुद्र उसी के इशारे पर मौन गम्भीर मुद्रा से आकाश की ओर ताक रहा है, सूर्य उसी के इंगित पर जल रहा है । वह महान है, वह ब्रह्म है, वह व्यापक है ।[१] वैदिक साहित्य का आरम्भ इसी अवस्था से होता है ।

स्तोत्र = साहित्य का विकास

वेदों के स्तोत्रों में आत्म = समर्पण की भावना अधिक मात्रा में है। उनमें आदि पुरुष के आत्मिक लघुता एवं दैन्य- प्रदर्शन का भाव प्रदर्शित किया गया है । वह सर्व शक्तिमान और नियामक है, उसकी सत्ता परोक्ष और अपरोक्ष सभी रूपों में प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है । यही कारण है कि उसके प्रति उपासना की भावना जागृत हुई । इस प्रकार के स्तोत्रों में बौद्धिकता का प्रभाव अनुभूत नहीं होता वरन् वे उसकी सत्ता से प्रभावित होकर ही लिखे हुए प्रतीत होते हैं ।

परन्तु वैदिक आर्य का दृष्टिकोण क्रमशः बौद्धिक होता गया और उसके लिए जीवन अधिक दुरूह और जटिल बन गया । इस स्थिति में बौद्धिकता की वृद्धि होती गई और वह पहले से अधिक व्यावहारिक बन गया । दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप अब उसके देवता अतिवर्ती सत्ता मात्र न रह कर अधिक सकाम बन गये । ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अनेक उदाहरण हैं । इस अवस्था में वैदिक आर्यों ने यह अनुभव

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

मध्य कालीन धर्म - साधना पृ० २००

किया कि अब उनके देवता उतनी तत्परता से उनकी सहायता में प्रवृत्त नहीं होते। वे अपने भक्त से कठोर से कठोर साधना की अपेक्षा करते हैं और उसकी एक = एक त्रुटि को बड़े ध्यान से देखते हैं। वैदिक ऋषि की मेधा के विकास में यह स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस काल के वैदिक यज्ञों के विधान में देवताओं के साथ निश्चित मूल्य पर विनिमय की भावना का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। ब्राह्मण = ग्रंथों एवं बहुत से सूत्र = साहित्य में इस भावना के अनेक प्रमाण मिलते हैं। १

उपनिषद् एवं कतिपय दार्शनिक सूत्रों में जिस नैष्कर्म्य = सिद्धि का संकेत मिलता है उसे याज्ञिक कर्म = कांडों की रूढ़ि = ग्रस्त विचार धारा के विरुद्ध विद्रोह का प्रमाण माना गया है। विद्वानों का अनुमान है कि इस प्रकार के विद्रोह के सूत्रपात के पूर्व वैदिक स्तोत्र याज्ञिक कर्म कांड के अंग अथवा साधन मात्र बन कर रह गये थे। वे क्रमशः सामान्य आर्यों के अपेक्षाकृत कम औपचारिक दैनिक व्यवहार के अंग बन गये थे। धर्म अपना सार्वभौम एवं सार्वजनिन प्रभाव खो चुका था और वह बौद्धिकता एवं विचित्र प्रकार के अनुमानों का विषय बनता जा रहा था। ब्राह्मणों = उपनिषदों तथा गृह्य एवं श्रौत सूत्रों के देखने से पता चलता है कि उक्त अवस्था में वैदिक स्तोत्रों का प्रकृत आकर्षण प्रायः समाप्त हो गया था और अंततः उनका उपयोग उदूखल, मुशल, सोम आदि यज्ञ के भौतिक साधनों से अधिक नहीं रहा था। वे या तो जादू = टोने के साधन माने जाने लगे थे अथवा प्रतीकात्मकता के दुरूह जाल में अपनी मूल सत्ता खो बैठे थे और कर्म कांड के आश्रित अथवा पूरक मात्र बन कर रह गये थे। सब प्रकार के देवताओं का महत्त्व भी द्रुतगति से क्षीण होने लगा था और संभवतः सामान्य तथा विशिष्ट सब प्रकार के आर्यों के मन में किसी न किसी प्रकार की मूर्ति भक्ती अभि व्यक्ति की प्रबल आकांक्षा जागृत हो गई थी जिसके द्वारा वे अनंत और असीम की उपलब्धि की पिपासा को शान्त करना चाहते थे। २ =

---

१. S.P. Bhattacharya . The Storva Literature of Old India
Indian Historical Quarterly .Page 341..1925.

२ = Indian Historical Quarterly 1925
(The Stotra Literature of Old India)

जिस उपासना की पद्धति का/ उपर्युक्त प्रकार से नवीनीकरण हुआ उसमें 'वंदना' और 'स्तुति' परमावश्यक उपादान बने । उसके परिणाम स्वरूप पुराण भक्ति - भावना की चेतना से ओत-प्रोत हो गये । आध्यात्मिक दृष्टि कोण में परिवर्तन हुआ और यहां तक कि लौकिक माने जाने वाले साहित्य में भी यह चेतना संक्रान्त हो गई । उसके प्रमाण में 'रघुवंश' और 'कुमार - सम्भव' के स्तोत्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं । किरातार्जुनीय' में अर्जुन ने किरात की स्तुति की है । [1] २ भीष्म ने 'शिशुपाल वध' में कृष्ण की स्तुति की है । राजा नकरात्नाकर । हर विजय । [3] में देवताओं ने चंडी का स्तवन किया है । इसके साथ-साथ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पौराणिक साहित्य के समानान्तर तान्त्रिक साहित्य का भी विकास होता रहा था । लौकिक भक्ति - धर्म का जो प्रदीप पुराणों ने प्रज्ज्वलित किया था उसको प्रकाशित रखने में तन्त्रों ने भी पूर्ण योगदान दिया । यद्यपि तन्त्रों के आधार-मूल सिद्धान्त अत्यन्त ही विचित्र रहस्य मय और प्राय: अवैध हैं फिर भी तीसरी शताब्दी से ही लोक मानस पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा था क्योंकि उन्होंने जाति ,धर्म एवं सम्प्रदाय आदि सब भेदों की अवहेलना कर के उपासना का मार्ग समान कर दिया था । विद्वानों का विचार है कि पुराणों पर तन्त्रों का गहरा प्रभाव पड़ा है । उसके साथ - साथ इन्हीं दिनों ग्रहों के प्रभाव पर भी लोगों का विश्वास बढ़ा है और उनको मनुष्य के बाह्य परिवेश का विधान करने वाला अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तत्व माना गया । इसका परिणाम यह हुआ कि विनम्रता पूर्वक प्रार्थना की प्रवृत्ति को अत्यधिक उत्तेजन प्राप्त हुआ । इस प्रकार इस काल में बहु संख्यक धार्मिक स्तुतियों का प्रणयनहुआ जो रागात्मक आवेश और आवेग की दृष्टि से वैदिक काल के दृष्टा ऋषियों के स्तोत्रों के साथ तुलनीय हैं । स्तोत्रों के 'वर्ग' और 'कदम्ब' नाम के भी कतिपय भेद इसी

१.२. शरणं भवन्त मति का रुणिकं भव भक्ति गम्य मधि गम्य जना: ।
जित नृत्य वी जित भवन्ति भये ससुरा सुरस्य जगत: शरणम् ।।२२।। विपदेति तावदव साद करीन च काम सम्पद मिका भयते । न नमन्ति चैक पुरुषं पुरषास्तव यावदीशन् नति: किपते ।।२३।। सं सेवन्ते दान शीला विमुक्त्यै सम्पश्यन्ते जन्म दु:ख पुमांस: । यन्नि: संगस्त्वं फलस्यानते भ्यस्त त्वा हुंयं केवलं नस्व कार्ष्णम् ।।२८।।
किरातार्जुनीयम् सर्ग १८ श्लोक ।२२ - २४ ।

3 Canto XLVII

अवकाश में विकसित हुए हैं । यह एक प्रकार से अपनी रक्षा के लिए अथवा शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं । राम ने रावण के मारने के समय आदित्य हृदय नामक स्तोत्र का जप किया था । विश्व रूप ने इन्द्र को इसी `नारायण वर्म' का उपदेश दिया था और इसी के प्रभाव से उसने असुरों पर विजय प्राप्त की थी ।

पुत्रे शिरस्था सुमुन्धौ दौर्भा राही निविन्यसेत् ।
ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययं मथापि वा ॥६॥
करन्यासं ततः कुर्याद् द्वादशाक्षर विद्यया ।
प्रणवादिय कारान्तं मंगुल्यंगुष्ठ पर्वसु ॥७॥
न्यसेद्हृदय ओंकारं विकारं मनु मूर्धनि ।
षकारं तु भ्रुवो मध्ये णकारं शिखयादि शेत् ॥८॥
वेकारं नेत्रयो र्युञ्ज्यान्नकारं सर्व सन्धिषु ।
मकारमस्त्र मुद्दिश्य मंत्र मूर्ति र्भवेद् बुधः ॥९॥ १

`कवच' के भी अनेक भेद हुए,जैसे रक्षा कवच,वज्र पंजर ,त्रैलोक्य विजय एवं मृत्युंजय आदि। पंजर में `राम रक्षा = स्तोत्र' प्रसिद्ध है । सम्भवतः यही आगे चल कर कीर्तन के रूप में परिणत हो गए । बंगाल में खोज करने पर हस्तलिखित प्रतियों में भी अनेक स्तोत्रों की प्राप्ति होती है । पुराणों में ब्रह्म ,विष्णु ,मार्कण्डेय , स्कन्द ,पद्म , भागवत,ब्रह्म वैवर्त आदि में स्तोत्रों की उपलब्धि होती है । महाभारत में भी हरिवंश एवं देवी भागवत तथा भविष्योत्तर में सब से अधिक स्तोत्रों का कोष है । प्राचीन तंत्रों में `ज्ञान संकलिनी'

---

१. भागवत् षष्ठम् स्कन्ध ,अध्याय ८ पृ० २२२ - २३

2. The instruction about 6 Jafa' stava etc. in the Tantra Sahitya Japanistha duyasresth akhilayajnaphalambabhet. The efficacy of Pauranik and Tantric mantras contrasted with the non efficacy of earlier hymns and syllables as cribed to the vedic rise is constantly harped on theme in the writings of these age.

Mahanirvantantra II 14,16

महानिर्वाण प्रपञ्चसार, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल, वाराहीतन्त्र, भैरवतन्त्र, विश्वसार शारदातिलक और परवर्तीकाल में 'नीलतंत्र' तन्त्रसार आदि से भी स्तोत्र मिलते हैं। महिम्न: एवं मुकुंद माला जैसे स्तोत्र इन्हीं में हैं। अनेक स्तोत्र ऐसे भी मिलते हैं जिनके प्रणेताओं के विषय में संदेह है। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि ऐसे स्तोत्रों के अन्य अनेक संग्रह भी रहे होंगे। ~~बृहत् स्तोत्र रत्नाकर, बृहत्स्तोत्रमुक्ताहार आदि परवर्ती संग्रह भी रहे होंगे~~। बृहत् स्तोत्र रत्नाकर, बृहत्स्तोत्रमुक्ताहार आदि परवर्ती संग्रहों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि आज के स्तोत्र साहित्य का महत्व भारतीय जीवन में बहुत अधिक रहा है।

<u>स्तोत्रों के देवता</u>

वेदों में प्रकृति की नियामक शक्तियों की उपासना इन्द्र, मरुत, अग्नि, उषा, मित्र, वरुण आदि देवताओं के रूप में की गई है। इन देवताओं के अनेक मनोहारी स्तवन वेदों में प्राप्त होते हैं। परन्तु वैदिक काल के प्रमुख देवता तीन हैं ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। वैदिक काल की इस त्रिदेवोपासना के स्थान पर पौराणिक काल में पंचदेवोपासना की प्रतिष्ठा हुई। पौराणिक काल में वैदिक काल के दो देवताओं विष्णु और रुद्र का महत्व तो बराबर बढ़ता रहा पर तीसरे देवता ब्रह्मा का महत्व क्षीण हो गया। इसलिए पौराणिक साहित्य में विष्णु और रुद्र के अनेकानेक स्तोत्र मिलते हैं पर ब्रह्मा के स्वतंत्र और सर्वांग पूर्ण स्तोत्र प्राय: नहीं मिलते। पौराणिक साहित्य में ब्रह्मा वर दाता देवताओं के रूप में आविर्भूत हुए हैं। महान् अथवा उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर वे तपस्वी को वर प्रदान करने के लिए पधारते हैं। उस समय वह तपस्वी उनके स्वागत अथवा अभिनंदन में जो कुछ कहता है, ब्रह्मा के स्तोत्रों के नाम पर पौराणिक साहित्य में हमें प्राय: वही उपलब्ध होता है। हिरण्यकशिपु की उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा के पधारने पर वह इस प्रकार उनकी स्तुति करता है :

कल्पान्ते काल सृष्टेन योऽन्धेन तमसाऽऽवृतम् ।
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयं ज्योति: स्वरोचिषा ।।२६।।
आत्मना त्रिवृताचेदं सृजत्यवति लुम्पति ।
रज: सत्त्व तमोधाम्ने पराय महते नम: ।।२७।।
नम आद्याय बीजाय ज्ञान विज्ञान मूर्तये ।
प्राणेन्द्रिय मनोबुद्धि विकारैर्व्यक्ति मीयुषे ।।२८ ।।

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च प्राणेन मुख्येन पति प्रजानाम्
चित्तस्यचित्तेर्मन इन्द्रियाणां पतिं महान् भूत गुणा शेयश: ।।२९ ।।
त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा त्रय्या चातहोत्रं कविद्ययाच ।
त्वमेक आत्माऽऽत्मवता मनादिरनन्त पार: कविरन्तरात्मा ।।३०।।
त्वमेव कालो निमिषो जनानामायु लवाद्या वयवै: क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा पर मेष्ठ्य जो महांस्त्वं जीव लोकस्य च जीव आत्मा ।।३१।।
त्वत्त: परंनापर मप्य नेज दे ज च्च कि ञ्चिद व्यतिरिक्तमस्ति ।
विद्याकलास्ते तनवश्च सर्वा हिरण्य गर्भो सि वृहत त्रिपृष्ठ: ।।३२।।
व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीर येनेन्द्रिय प्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुंक्षे स्थितो धामथेन पारमेष्ठ्य अव्यक्त आत्मा पुरुष: पुराण: ।।३३।।
अनन्ता व्यक्त रूपेण ये नेद मखिलं ततम् ।
चिचिच्छक्ति युक्ताय तस्मैं भगवते नम: ।।३४।।

श्री मद् भागवत् : सप्तम स्कन्धे
अध्याय: ३

पौराणिक साहित्य में ब्रह्मा के स्तोत्रों का यही संक्षिप्त रूप हमे प्राप्त: मिलता है। वैदिक त्रिदेवो की उपासना के स्थान पर जब पंचदेवों की उपासना का प्रवर्तन हुआ तो विष्णु और शिव के साथ साथ गणेश ,सूर्य और देवी या दुर्गा का महत्त्व बढ़ा। अतएव इन पंचदेवों के स्तोत्रों की रचना का अखंड क्रम चल पड़ा इन देवताओं के स्तोत्रों के साथ ही इनकी शक्तियों , गणों , वाहनों , आभूषणों और आयुधों के भी अनेक स्तोत्र लिखे गये। 'दुर्गा सप्तशती' में भगवती के खड्ग ,घंटा आदि आयुधों के बड़े ओजस्वी स्तवन प्राप्त होते हैं :

असुरा सृग्व सायंक चर्चित स्ते करोज्ज्वल: ।
शुभाय खड्गो भवतु चंडिके त्वांनता वयम् ।।
हिनस्ति दैत्यते जांसि स्वनेनापूर्य या जगत् ।
सा घंटा पातुनो देवि पापेभ्योन: सुतानिव ।।१

इसके अतिरिक्त इन देवताओं के अनेक रूपों और अवतारों के भी अनेकानेक स्तोत्रों की रचना हुई। अवतारों के महत्त्व की दृष्टि से विष्णु का स्थान सर्व

प्रमुख है । इनके चौबीस अवतारों [१] में दस प्रधान माने गये हैं । विष्णु और उनके अवतारों की शक्तियाँ लक्ष्मी , सीता , राधा आदि के स्तोत्रों की भी रचना हुई है । इसी प्रकार शिव के विभिन्न ज्योतिर्लिंगों के भी अनेक स्तोत्र रचे गये । उनकी शक्ति सती अथवा पार्वती को ही पंचदेवों में परिगणित किया गया । भगवती दुर्गा को लक्ष्य कर लिखे गये स्तोत्रों की संख्या बहुत अधिक है जिनमें 'दुर्गा सप्तशती' और शंकराचार्य के 'सौन्दर्य लहरी' तथा 'आनंदलहरी' आदि अनुपमस्तोत्र रत्न हैं । भगवती दुर्गा के नव रूपों में उपासना होती थी , ये रूप नव दुर्गा कहलाते थे । इन सब रूपों को लक्ष्यकर स्तोत्र लिखे गये । इनके अतिरिक्त भी ~~का~~ भगवती दुर्गा के अनेकानेक रूपों की उपासना हुई । गणेश के साथ उनकी ऋद्धि सिद्धि आदि शक्तियाँ भी अभिनंदित वंदित हुई । इन देवताओं के नामों की माला भी स्तोत्रों के रूप में ग्रथित हुई—'विष्णु सहस्रनाम्' इसका सुन्दर उदाहरण है । इसके अतिरिक्त 'गायत्री सहस्रनाम' अद्भुत रामायण का 'सीतासहस्रनाम्' आदि प्रसिद्धस्तोत्र हैं । इनमें स्तवनीय अत्यंत ही श्रेष्ठ रूप प्राप्त होता है । वाल्मीकि रामायण का 'आदित्य हृदय स्तोत्र' भी बड़ा महत्वपूर्ण है । पहले बताया जा चुका है कि रावण के विनाश के लिए राम ने इस स्तोत्र का अनुष्ठान किया था :

रश्मि मन्तं समुद्यन्तं देवासुर नमस्कृतम् ।
पूजय स्वविवस्वन्तंभास्करं भुवनेश्वरं ।।६।।
सर्वं देवात्मको ह्येष तेजस्वी रश्मि भावन: ।
एष देवासुर गणांल्लोकान् पाति गभीस्तभि: ।।७।।
एष ब्रह्म च विष्णुश्च शिव: स्कन्द: प्रजापति: ।
महेन्द्रोधनद: कालो यम: सोमो ह्यपां पति: ।।८।।
पितरोवसवा साध्या अश्विनौ मरुतो मनु: ।
वायुर्वह्नि: प्रजा: प्राण ऋतु कर्ता प्रभाकर : ।।९।।
आदित्य:, सविता: , सूर्य:, खग: पूषा गभिस्तमान् ।
सुवर्ण सदृशो भानुर्हिरण्य रेता दिवाकर : ।। १० ।। [२]

।१। गीत गोविंद : जयदेव

।२। वाल्मीकि रामायण : लंकाकाण्ड सर्ग १०५ श्लोक ६११

प्रमुख देवताओं के वाहन, आभूषण, आयुध आदि के प्रतीकात्मक रूप का उद्घाटन होता है जिससे यह सिद्ध होता है कि पंचदेवोपासना एवं अवतारवाद के मूल में आत्मपरक सर्ववाद का सिद्धान्त निहित है। 'भागवत' आदि में उनके प्रतीक रूपों के स्पष्टीकरण मिलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के रूपों का भी बड़ा ही मनोहारी वर्णन हुआ है। शौनक द्वारा भगवान् के स्वरूप के विषय में प्रश्न किये जाने पर सूत जी ने बतलाया है कि 'उनकी ग्रीवा में पड़ी हुई कौस्तुभ मणि उनकी आत्मज्योति की प्रतीक है, वनमाला, माया की प्रतीक है, कुण्डल, सांख्य एवं योग के प्रतीक हैं, पद्म, धर्मज्ञान का प्रतीक है, ~~कुण्डल~~, गदा, ओज-बल का प्रतीक है और चक्र, उनके तेज का प्रतीक है:

कौस्तुभ व्यपदेशेन स्वात्म ज्योतिर्बिभर्त्यजः।
तत्प्रभा व्यापिनी साक्षात् श्री वत्समुरसा विभुः ॥१०॥
स्वमायां वनमालाख्यां नाना गुणमयीं दधत्।
वासश्छन्दो मयं पीतं ब्रह्म सूत्रं त्रिवृत् स्वरम् ॥११॥
बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकर कुण्डले।
मौलि पदं पारमेष्ठ्यं सर्व लोका भयंकरम् ॥१२॥
अव्याकृत मनन्ताख्य मासनं यद धिष्ठितः।
धर्म ज्ञानादि भिर्युक्तः सत्त्वं पद्म मिहोच्यते ॥१३॥
ओजः सहोबल युक्तं मुख्य तत्त्वं गदां दधत्।
अपां तत्त्वंदरवरंतेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् ॥१४॥
नभोनिभं नभस्तत्त्व मसिं चर्म तमोमयम्।
काल रूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्म मयेषु धिम् ॥१५॥
इन्द्रियाणि शराना हुराकूती रस्य स्यन्दनम्।
तन्मात्राण्य स्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थ क्रियात्मताम् ॥१६॥ [१]

इसी प्रकार अन्य देवताओं से संबंध रखने वाले साहित्य में भी यथास्थल उनके स्वरूपादि में आध्यात्मिक रहस्य का स्पष्टीकरण किया गया है।

---

१. श्रीमद्भागवत् : द्वादश स्कन्ध : अध्याय ११

इन पंच देवों के अतिरिक्त उन्हीं से सम्बंधित अन्य अनेक देवताओं की उपासना का भी क्रम चला और उनके भी स्तोत्र लिखे गये साथ ही ~~कई~~ अनेक देवियों की उपासना भी प्रारम्भ हुई। इन देवियों में लक्ष्मी और सरस्वती प्रमुख हैं। लक्ष्मी को शक्ति पुंजी भी कहा जाता है। [१] परवर्ती काल में सरस्वती का महत्व कम हो गया था। इसका मूल कारण धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं का प्रभाव ही कहा जायगा। परवर्ती पुराणों, [तान्त्रिक और पौराणिक ग्रन्थों] में षष्ठी, शीतला, मनसा, वसुधा आदि की उपासना में स्तोत्र लिखे गये हैं। गंगा यमुना, गोदावरी, नर्मदा आदि के भी स्तोत्र मिलते हैं। विश्वनाथ, दंडपाणि, रंगनाथ, काल भैरव, मणिकर्णिका आदि देवताओं के साथ साथ वेंकटेश एवं पांडुरंग की उपासना में भी स्तोत्र लिखे गये हैं।

संस्कृत साहित्य में स्तोत्रों के संग्रह की परम्परा

संस्कृत साहित्य में स्तोत्रों के संग्रह करने की परम्परा रही है परन्तु यह पता लगाना कठिन है कि यह किस काल में हुए और इनके संकलनकर्ता कौन हैं। काल ज्ञात न होने पर भी यह स्तोत्र प्रगीति काव्य के रत्न हैं। इसका मूल कारण यह है कि ।१। इनके लेखकों ने भी अपने नामों को प्रकट करने की चिन्ता ही नहीं की। ।२। यह साहित्य ऐसा रहा है जिसका काव्य शास्त्रीय अनुशीलन तो नहीं हो पाया केवल पारायण रूप में ही इसे अपनाया जाता रहा है। ६०% स्तोत्र बारहवीं शताब्दी के मध्य के हैं। रचना काल की दृष्टि से यह प्रगीतात्मक स्तोत्र चार वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं। ।१। पुराणों, महाकाव्यों, नारद पाञ्चरात्र एवं तन्त्रों में इस प्रकार के स्तोत्र हैं। इनमें से कम से कम ७५ प्रतिशत स्तोत्र ऐसे हैं जो मुसलमानों के आगमन के पूर्व लिखे गये थे। ।२। इस प्रकार के धार्मिक स्तोत्र ऐसे हैं जो शंकराचार्य के लिखे हुए पाये जाते हैं। यह स्तोत्र भिन्न भिन्न देवताओं से सम्बन्धित हैं। शंकर के सिद्धान्तानुसार उन्हें अन्य देवताओं से कोई विरोध नहीं था। विद्वानों का अनुमान है कि कम से कम गंगा, चर्पट मंजरिका, आनंद लहरी काशी पंचक, [कृष्णा क्षमापराध] आदि स्तोत्र शंकराचार्य द्वारा विरचित हैं। शेष में से अधिकांश परवर्ती शंकराचार्यों के द्वारा रचे गये हैं। कुछ ऐसे भी स्तोत्र हैं जिन्हें

।१। We have both direct and indirect invocations of her in the vedic hymns (e.g. x 58) The Tantrick Stava of Saraswati, trim trim widyekabiji sasiracik.

व्यक्तियों ने लिखकर शंकर के नाम से प्रख्यात कर दिया है। इसका प्रमाण राजशेखर एवं जल्हण ने भी अपनी "सूक्ति मुक्तावली" में दिया है। बंगाल में शंकर नामक एक तान्त्रिक रचनाकार हुए हैं। उनके भी कुछ स्तोत्र मिलते हैं। कुछ स्तोत्र मठाधीशों एवं सम्मानित व्यक्तियों के द्वारा भी लिखे गये हैं। ।3। यह परम्परा आगे भी चलती गई और "गणेश महिम्नः" आदि स्तोत्र पुष्पदंत के नाम से लिखे गये पर संभवतः वे उनके नहीं हैं। जब एक देवता की प्रसिद्धि हुई और उनके नाम से स्तोत्र लिखे गए तो दूसरों को समान महत्व देने के लिए उनके अनुयायियों द्वारा उनके स्तोत्र भी लिखे और प्रचारित किए गये। ।4। शतकों की परम्परा भी स्तोत्र साहित्य में बराबर चलती रही। आनंदवर्धन का देवी-शतक बाणभट्ट का "चंडीशतक" मयूर का "सूर्य शतक" आदि सातवीं एवं नवीं शताब्दी के मध्य में लिखे गये हैं। ।5। कुछ स्तोत्र सूक्ति शैली में लिखे गये हैं जिनके कर्ता वाल्मीकि एवं कालिदास आदि माने गये हैं। 6। परवर्ती कैवल्य लीला शुक एवं पंडित-राज जगन्नाथ चैतन्य के समकालीन माने जाते हैं। इनका रचनाकाल तो निश्चित है परन्तु कुछ ऐसे स्तोत्र हैं जिनका रचनाकाल संदिग्ध है। उनकी दार्शनिकता के आधार पर उनके काल का निर्धारण किया जा सकता है। यह स्तोत्र-साहित्य भारत की प्राचीन सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुशीलन की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण है और धार्मिक विकास की परम्परा के अनुशीलन में भी सहायक है। इन स्तोत्रों में जीवन का जो समन्वय पूर्ण और रचनात्मक दृष्टिकोण मिलता है वह अत्यंत ही महत्वपूर्ण है।

भक्ति की दृष्टि से भी स्तोत्र साहित्य अत्यन्त यथार्थ और मर्मस्पर्शी है। इसके द्वारा इस बात के निर्धारण में भी सहायता मिल सकती है कि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव क्यों और कैसे हुआ? तान्त्रिक स्तोत्रों के कारण अनेक अहिन्दू देवता भी हिन्दू मान लिए गए। बुद्ध एवं महावीर का स्तवन इस प्रकार प्रारम्भ हुआ। अनेक देवियाँ भी अहिन्दू स्तोत्रों से भारतीय जन-जीवन में प्रचलित हुईं जिनमें शीतला, एवं विशालाक्षी प्रमुख हैं और जिनका उद्भव तन्त्रों में हुआ है। विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति लिखे गए इस विशाल स्तोत्र-साहित्य से हिन्दू-जीवन के सहिष्णुतापूर्ण उदार दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है।

साहित्यिक पृष्ठ भूमि

स्तोत्रों को जितना धार्मिक महत्व दिया गया है उतना साहित्यिक नहीं। साहित्यिक दृष्टि से उनके अध्ययन की एक प्रकार से उपेक्षा सी हुई है। हिन्दुओं ने स्तोत्रों का रचना-विधान केवल अपने आराध्य के प्रति भक्ति-भावना प्रदर्शित करने के लिए किया था। उनको यद्यपि स्तोत्रों को अधिक से अधिक साहित्यिक सौष्ठव और कलात्मक वैशिष्ट्य से मंडित करने का प्रयत्न भी रचनाकारों द्वारा बराबर होता रहा पर उनका यह पक्ष प्रायः उपेक्षित ही रहा। पुराणादि में स्तोत्रों की जो फलः-श्रुति लिखी गई है उसके कारण भी उनका साहित्यिक महत्व उपेक्षित हो गया और वे केवल ~~[illegible]~~ बार बार पाठ और पारायण के विषय बन गये। एस० पी० भट्टाचार्य ने स्तोत्रों की साहित्यिक महत्ता के विषय ~~[illegible]~~ में लिखा है कि "यदि स्तोत्र साहित्य की समीक्षा के लिए साहित्यशास्त्र के उन्हीं मानदंडों का प्रयोग किया जाता जिनके आधार पर विशुद्ध लौकिक एवं धर्मनिरपेक्ष साहित्य की परीक्षा होती रही है तो निश्चय ही अनेक स्तोत्र श्रेष्ठतम काव्य के उदाहरण मान लिए जाते।"१ इन स्तोत्रों में रस एवं भाव के अनुकूल मधुर छंद रूपों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के छंदों में वसन्ततिलका, तोटक, द्रुतविलम्बित, भुजंगप्रयात, पंचचामर आदि प्रमुख हैं। स्तोत्रों का साहित्यिक महत्व जितना कलात्मक अभिव्यक्ति पर आश्रित है उतना ही रसों और भावों के औदात्य पर भी। उनमें जो अलौकिक रस उपलब्ध होता है सम्भवतः उसी की प्रतिष्ठा आगे चलकर वैष्णव आचार्यों ने ने रसके नाम से की है।

<u>दार्शनिक पृष्ठभूमि</u> : कुछ ऐसे भी स्तोत्र हैं। जिनका दार्शनिक दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट है। उनमें से अनेक स्तोत्र आत्मप्रबोधात्मक हैं। इन स्तोत्रों में सांसारिक असारता की व्याख्या हुई है। उनके ज्ञान-तत्व के आगे भक्ति एवं

१। But if we apply the same canons of criticism as are applied in the testing of purely profame and secular verses, it will be seen that many of these canons have as good a claim to recognise as poetry."

S.P.Bhattacharya .. Indian Historical Quarterly page 355 - 1925.

कर्म का महत्व न्यून हो गया है। अनुमानत: कतिपय विद्वानों ने ही उनका समर्थन किया था। इन स्तोत्रों में कुछ अत्यंत ही विद्वतापूर्ण हैं। इन दार्शनिक तत्वों का विनिवेश करते हुए इन स्तोत्रों की प्रमुख भाव धारा यह है कि मनुष्य निर्बल, आर्त एवं अनाथ है, पाप-ताप के बंधन से मुक्त होने का उसके पास एक मात्र उपाय यही है कि वह अपने को प्रभु की दया पर आश्रित कर दे। द्वैत के बंधन से इसी प्रकार मुक्ति मिल सकती है। यह अनुमान लगाया गया है कि आत्म प्रबोधात्मक स्तोत्रों में सिद्धि भाव को प्राप्त करने के पूर्व साधक भाव भी मिलना चाहिए। उससे पूजाभाव, पूजा भाव से ध्यान भाव और अंत में ब्रह्म भाव आता है। स्तोत्र इस भाव को प्राप्त करने के द्वार माने गये हैं। इस प्रकार पूजा पद्धति की चार स्थितियां निश्चित हुईं :

१. बाह्यपूजा
२. ध्यान
३. मानस
४. वंदना

इस प्रकार पवित्र हृदय से उस ब्रह्म का आराधन करने पर क्रमश: आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। स्तोत्र साहित्य आदि काल से इसी बात का संकेत करता आ रहा है। आर्यों की पवित्रता और एक निष्ठा ने ही उन्हें सदैव धार्मिक जागरूकता प्रदान की थी और उसी का आश्रय लेकर वे भक्ति-पूर्ण भावना से ब्रह्म के सन्निकट पहुँचने का प्रयत्न करते रहे थे।

<u>धार्मिक विकास में स्तोत्र का महत्व :</u>

स्तोत्रों का रचना-विधान हमें ब्रह्म का उद्बोधन कराता हुआ उस ओर उन्मुख करता है। प्रत्येक रचना भगवान के सन्निकट पहुँचाने का प्रयत्न करती है। सायण का यही मत है क्योंकि "प्रत्येक मंत्र उस आध्यात्मिक सत्ता के प्रभुत्व को स्पष्ट करता हुआ उद्घोषित करता है कि उसके द्वारा ही उसका अनुभव किया जा सकेगा[1]

---

१ Light on The Vedas Pages 55-56 T. Kapaleshastri

घट पट में व्याप्त है , प्रकृति में उसकी सत्ता है और उसी के संकेत पर सृष्टि की गतिविधि संपन्न होती है । प्रकृति चिरकाल से मानव की सहचरी रही है । प्रकृति के आश्रय से ही मानवीय आकांक्षायें अपनी पूर्ति के साधन खोजती हैं । बिना ब्रह्म की इच्छा से प्रकृति का एक तृण भी नहीं हिलता । निष्काम चिंतन ही आत्मिक शुद्धि के पश्चात् निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति कराता है । वास्तव में स्तुति में जो प्रभु के गुणों का कीर्तन होता है वह प्रभु के स्वरूप का तो उद्घाटन करता ही है , साथ ही सापेक्षता में प्रकृति का भी ज्ञान करा देता है । परिणामतः यह ज्ञान साधक को प्रकृति से हटाकर प्रभु की ओर प्रवृत्त कर देता है ।[1] यही भक्ति का मूल रूप है ।

वेदों में ब्रह्म का एक विशेष अस्तित्व है । यद्यपि उनमें बहुदेव वाद का आभास होता है परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि ईश्वर एक ही है , विभिन्न रूप उसकी व्यावहारिक सत्ता के द्योतक हैं । एकेश्वरवाद की इस भावना का समर्थन दयानंद , राममोहन राय एवं सायण ने भी किया है ।[2] ब्रह्म हमारी यौगिक भावनाओं से अन्तःकरण में विद्यमान हो जाता है ।[3] यदि आन्तरिक भावनाएं पवित्र हैं तो हम सरलता से उसे प्राप्त कर सकते हैं । वेद उसी सत्ता के समर्थक हैं जो आदिकाल से विश्व का पथ-प्रदर्शन करती है । उपनिषदों में ब्रह्म का वह अस्तित्व छिपा हुआ है जिसे सार्वकालिकता एवं सार्वभौमिक कहा जा सकता है । उसके आन्तरिक एवं बाह्य दोनों रूप विश्व को अपने में सीमित किए हैं ।[4]

---

1. डा० मुंशीराम शर्मा , भक्ति का विकास पृ० १११
2. आगे

(कृपया शेष पाद टिप्पणियाँ अगले पृष्ठ पर देखिए ।)

इस उपनिषद् में हमें मिलता है कि ब्रह्म की उपासना अन्न, प्राण, मन ज्ञान और आनंद इन सब रूपों में करनी चाहिए।[1] ब्रह्म के दोनों रूप माने गये हैं—सगुण एवं निर्गुण।[2] पहले विभिन्न देवताओं की उपासना पृथक रूप में होती रही पर उपनिषदों ने रुद्र, विष्णु, अच्युत नारायण आदि को ब्रह्म कह कर उपासना की है और उसी ब्रह्म की व्यापकता को भारतीय जीवन में

(पूर्ववर्ती पृष्ठ की २,३,४ पादटिप्पणियाँ)

2. Roth and Dayananda Saraswati agree with this view Ram Mohan Roy considers the vedic gods to be the allegorical representations of the attribute of the supreme deity sayana some times interprets the hymns in the Sprint of the later Brahmanic religion.

Light on the Vedas page 2.

3. The Vedic age was followed by a great out burst of intellect and philosophy which yet took spirintual truth as its basis and tried to reach it anew, not through a direct Intuition or occult process as did the vedic seers, but by the power of the minds reflective, speculative, logical thought, at the same tune process of yoga were developed which used the thinking mind as means of arriving at spiritual realisation, spiritualising this mind itself at the same time.

~~On the~~ On the light ~~of~~ Vedas page 9

4. The Vedic deities are names, powers and personalities of the universal God head and they represent each some essential puissance of the Divine Being.

Lights on the upmishadas.

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्
२. बृहदारण्यक

स्थिर किया है । [१] उपनिषद्काल में जिस प्रकार उपास्य की भावना व्यापक हुई उसी प्रकार उपासना-पद्धति का भी परिष्कार किया गया । छान्दोग्य उपनिषद् में ३।१६ १७ में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य का जीवन भी एक प्रकार का यज्ञ ही है । यह यज्ञ 'ज्ञान-यज्ञ' है । भगवान् श्री कृष्ण ने भी इसे श्रेष्ठ माना है :

श्रेयान्द्रव्य मयाद्यज्ञा ज्ज्ञान यज्ञः परंतम ।।

गीता ४।३३

यद्यपि उपनिषद् काल में एक ब्रह्म की उपासना पर बल दिया गया परन्तु सामयिक विकास के साथ साथ परलोक प्राप्ति की भावना जागृत हुई और निःश्रेयस का सिद्धान्त सामने आया । प्राचीन देव-पूजा में दो लक्षण अनुभव किए गए । आचार्य शुक्ल का यही मत है । १.देवता केवल पूजा पाने पर ही उपकार करते हैं ,न पाने पर अनिष्ट करते हैं । २. देवता यों तो बराबर उपकार किया करते हैं पर पूजा पाने पर विशेष उपकार करते हैं । [२] इस प्रकार मानव जाति में अति प्राचीन काल से तीन भाव [illegible] जागृत हुए १.भय २.लोभ ३. कृतज्ञता । इन तीनों भावों को 'विनीत वचन' स्तुति और उत्तम द्रव्यों की भेंट द्वारा पूर्ण माना गया । परन्तु ये तीनों भाव पूजा की ओर ही अग्रसर करते हैं । अतः यह निश्चित किया जा सकता है कि मनन शीलता और भावुकता की विचार धारा प्राचीन काल से थी । शत् पथ ब्राह्मण में तो सहृदयता और भावुकता का एक विशेष रूप उपास्य के साथ-साथ धर्म में भी प्राप्त होता है । एक स्थान पर उसमें कहा गया है कि 'पुरुष नारायण ने यज्ञ करके वसुओं , रुद्रों और आदित्यों को इधर उधर सब दिशाओं में भेजा और आप जहां के तहां स्थिर रहे । [३] प्रभु का अनुभव आन्तरिक एवं दोनों रूपों में होना

।१। त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णु स्त्वं रुद्रास्त्वं प्रजापतिः
त्वं मग्नि वरुणो वायुस्त्वं मिन्द्र स्त्वं निशाकर : ।।
त्वं मनुस्त्वं , यमश्च्त्वं , पृथिवी त्व मथा च्युतः ।
स्वार्थे स्वाभावि केऽर्थे च बहु धातिष्ठते दिवि ।।
। मैत्र्युपनिषद् ।

।२। आचार्य शुक्ल : सूरदास पृ० ८

।३। आचार्य शुक्ल : सूरदास पृ० ९

चाहिए । भारतीय भक्ति में उसी को पुरुषोपासना का रूप दिया गया है । अग्नोपासना को लेकर विष्णु पूजा प्रारम्भ हुई । अन्न के द्वारा शरीर का पालन होता है अतः विष्णु को संसार का पालक अनुभव किया गया । यद्यपि ब्रह्म विनाश भी करता है पर पालन अधिक । अतः पालक रूप ही सत्स्वरूप कहा जायगा । आचार्य शुक्ल ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है 'उपास्य के उदात्त स्वरूप की भावना के अनुरूप ही धर्म की परिष्कृत और उत्कृष्ट भावना का आभास भी हमें उक्त शतपथ ब्राह्मण में 'पञ्चमहायज्ञ के उल्लेख द्वारा मिलता है ।[1] इसी काल में इष्टापूर्त की चर्चा हुई । उपनिषत्काल में ज्ञान मार्ग की दो शाखायें हमें प्राप्त हुई ।१। निवृत्ति पूरक ज्ञान मार्ग ।२। कर्म कारक ज्ञान मार्ग । उपमात्मक ब्रह्म का रूप आगे भी चला ' हृदय को सगुण और व्यक्त रूप में रखते हुए सम्यक् दर्शन के लिए उसकी निर्गुण और अव्यक्त सत्ता को भी लेना पड़ेगा ।[2]

आगे का भक्ति मार्ग ब्रह्म का उपमात्मक पक्ष लेकर चला ,परन्तु उसे सगुण माना गया । इसके विषय में शुक्ल जी ने लिखा है 'इसे सगुण भक्ति मार्ग कहने का अभिप्राय यह है कि वह प्रेम का वास्तविक संचार , हृदय का सचमुच रमण ,ब्रह्म के उतने ही स्वरूप के भीतर मानता है जितना व्यक्त है । अतः सगुण है ।[3] वास्तव में भक्ति मार्ग मानवीय रागात्मिका प्रवृत्ति को लेकर ही आगे बढ़ा है परन्तु उसे धर्म-भावना का भावात्मक विकास ही कहा जायगा । इसके लिए निष्ठा की अत्यंत आवश्यकता है 'पूजा के पश्चात् जो उपासना आई उसमें उपास्य के प्रतिनिष्ठा की ही भावना थी । कर्म, ज्ञान और उपासना से ही कर्म काण्ड , ज्ञान काण्ड और उपासना काण्ड का नामांकन हुआ। उपासना के आगे भक्ति आती है । ब्रह्म की अगाध शक्ति का विवेचन रहस्यात्मक रूप में हुआ और रहस्यवाद की नींव पड़ी । यह भी तीन रूपों में प्राप्त होता है :

१. भावोपलब्धि के साधन के रूप में
२. ज्ञानोपलब्धि के साधन के रूप में
३. अर्थोपलब्धि के साधन के रूप में

---

१. आचार्य शुक्ल : सूरदास पृ० ११
२. आचार्य शुक्ल : सूरदास पृ० १४
३. आचार्य शुक्ल : सूरदास पृ० ३५

जिस प्रकार दृष्टा के रूप में आत्मा स्थित है उसी प्रकार विश्व के अन्तस् में कोई परमात्मा है। भागवत में श्री कृष्ण ने नंद से कहा है कि गोवर्धन, गायें और ब्राह्मणों की पूजा श्रेयस्कर है। जो साक्षात् है और सीधे पालन पोषण करता है वही देवता कहा जायगा।[१] इस प्रकार 'अंजसपूजा' भारतीय भक्ति-भावना का प्रधान लक्षण है। भागवत् ने भगवान् श्रीकृष्ण के मधुरपक्ष का प्रकाशन किया है। वास्तविक भक्त ब्रह्म में लीन हो कर उसमें अपने को भुला देता है। भागवत में लिखा है

कथमालक्षित: पौरै: सम्प्राप्त: कुरू जांगलान्।
उन्मत्त मूकजड़ व द्विचरन् गज साह्वये।।

भागवत् १.४.६

माधुर्य भक्ति का प्रादुर्भाव इसी प्रकार हुआ। सगुण मार्गी भक्त इसी संसार से प्रभु का मार्ग अनुभव करता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है 'भारतीय भक्ति-मार्ग के सर्वसाधारण में प्रचार की व्यवस्था श्रवण और कीर्तन द्वारा ही सदा से रही है: उपदेश तर्क या वाद-विवाद द्वारा नहीं। कीर्तन को वंदन या 'स्तवन' से भिन्न समझना चाहिए। वन्दन या स्तवन् व्यक्तिगत वस्तु है। वह उस 'पूजा' का अंग है जो व्यक्ति केवल अपनी ओर से और अपने लिए करता है। पर कीर्तन का सम्बंध जन समुदाय की मर्मानुभूति से होता है।[२] इस प्रकार स्तोत्रों के द्वारा भारतीय जीवन में भक्ति-भावना का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण रूप स्थिर हुआ है।

<u>स्तोत्र.साहित्य के आधार पर चिन्मय रस-सिद्धान्त का निरूपण</u>

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भक्ति के मूल में माधुर्य भाव विद्यमान है और इस के बल पर ही भक्तों ने ब्रह्म का अनुभव करने का प्रयत्न किया है। माधुर्य भाव के कारण ही भक्त उसे अंगीकार करता है। साहित्य शास्त्र में भक्ति को भाव ही माना गया है पर अनेक भक्तों, वैष्णवों और च आचार्यों ने भक्ति के लिए 'रस' शब्द का प्रयोग बारम्बार किया है।[३]

---

१. भागवत् १०.२४.२३.२४

२. आचार्य शुक्ल. सूरदास पृ० ७४

३. आगे ...

१. वैष्णवों के माधुर्य भाव का उद्गम् वेद ही हैं और आगमों में उसके विकास के पदचिन्ह प्राप्त होते हैं । पं० गोपीनाथ कविराज ने लिखा है 'रसिक साधना की प्रकरण पद्धति पर पुष्ट करने के लिए आगम साहित्य से भी सहायता ली गई थी । वैष्णवागमों के अतिरिक्त शैव ,तथा शाक्त आगमों का भी उपयोग किया गया था इनमें अगस्त संहिता, सदा शिवसंहिता , हनुमत्संहिता प्रभृति विशेष उल्लेखनीय हैं ।।[2]
२. उन्होंने आगे लिखा है 'भारतीय भक्ति साधना के अत्यंतनिगूढ़ प्रदेश में इस भगवती लीला का संधान मिलता है । जो भक्ति को केवल भावरूप में ही नहीं पहचानते हैं , किन्तु रसरूप से उसका साक्षात्कार कर सकते हैं । भक्ति-रस के आस्वादन के अधिकारी वे ही हैं जिनके चित्त में इस प्रकार की योग्यता उत्पन्न होती है , वे ही रसिक भक्त हैं ।......जो भक्ति को केवल भावरूप में ही नहीं रसरूप में ग्रहण करने में समर्थ हैं ।[3] साहित्याचार्यों के रस सिद्धान्त का आधार अद्वैतवाद है । जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में सब वैष्णव सम्प्रदायों ने अद्वैतवाद को मायावाद कहकर अस्वीकार किया , उसी प्रकार साहित्य क्षेत्र में भी उन्होंने रस सिद्धान्त को जड़ोन्मुख घोषित कर भक्तिभावना के विकास के अनुकूल उसका संस्कार कर उसे चिन्मुख बनाया । ४. श्री नारायण भट्टाचार्य ने भी भक्त तरंगिणी में कहा है कि विषय रस को अमूर्तिमान्-अनास्वाद्य कहने वाले सत्य ही कहते हैं , क्योंकि विषयों में रस का नितान्त अभाव है , मूर्तिमान रस तो भक्ति-(रस ही) के है। विषय रसस्या मूर्ति मत्वं वदंतः सत्यमेव वदंति । रसत्वा भावदेवा रसस्तु भक्ति रस एवं मूर्तिमान् ।' इस रसमार्ग के आश्रय केवल श्रीकृष्ण हैं 'नंद नंदन एवस्या(रा)श्रयो रस वर्त्मसु ।' इस रस की प्रतीति भक्तों की चैतन्यात्मक-विषय पराग् मुख-इन्द्रियों में ही होती है — 'प्रतीयते भक्तानां चैतान्यात्मके दिवन्द्रियेषु ।।[5]

---

१. 'नहि भक्ति रसे विनान्यो स्ति रसः । 'श्री नारायण भट्ट
२. डा० भगवती प्रसाद सिंह , रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय भूमिका पृ० २
३. वही
४. प्रो० चन्द्र प्रकाश सिंह , गोविंद हुलास नाटक की भूमिका पृ० ८
५. वही पृष्ठ १४।

भक्तों ने जो पाँच प्रकार के रस माने हैं उनमें मधुर रस का स्थान सर्व श्रेष्ठ माना गया है । चैतन्य सम्प्रदाय के एक कवि ने इसी आधार पर लिखा है :

पूर्व पूर्व रस जो कहुन , पर पर रस अधि होय ।
एक होय लौं पाँच लौं क्रमि करि बाढ़े सोय ।।
गुणाधिक्य करि बढ़तु है प्रति रसस्वाद उजास ।
शांतादिक रस गुनिन कौ कान्त भाव अधिवास ।।
जैसे आकाश आदि गुण पर पर भूतहि होय ।
होय तीनि अरु द्वय जु बढ़ि पाँच बरनि सहि सोय।।
परिपूरण श्रीकृष्ण की प्राप्ति रही रस होय ।
रही प्रेम के कृष्ण वश कहैं भागवत सोय ।।

अर्थात् जिस प्रकार आकाश , पवन , अग्नि ,जल और क्षिति इन पाँच भूतों के गुण उत्तरोत्तर एक दूसरे से बढ़ते जाते हैं उसी प्रकार शान्त की रति दास्य में ,शान्त और दास्य दोनों की रति वात्सल्य में और शान्त, दास्य ,सख्य तथा वात्सल्य इन चारों की रति मधुर में सबकी प्राप्यता स्वीकार है ।[1] अतः कृष्ण की उपलब्धि मधुर रस में ही मानी गई है और इसे ही भक्ति भावना का मूलाधार कहा जा सकता है । भक्त की तन्मयता ही उसमें माधुर्य रस की उत्पत्ति करती है और वह प्रभु में लीन होकर अपनी आत्मीयता का अनुभव कर लेता है ।

अन्य प्रकार के प्रगीतों के साथ स्तोत्रों की तुलना

आज उपासना का स्वरूप परिवर्तित हो गया है । नाना प्रकार के 'वाद' मानवीय चेतना में अवरोध उत्पन्न कर रहे हैं । यद्यपि देवी देवताओं की स्तुति की जाती है , परन्तु उसकी शैली में परिवर्तन हो गया है । आज विभिन्न ढंगों में उनका स्तवन होता है । निम्नलिखित में प्रसाद जी ने इसी गीत शैली में अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शित की है :

सुधा सीकर से नहला दो

---

१. गोविंद हुलास नाटक की भूमिका पृ० ४५

~~२. वही पृ० ४५~~

जहाँ छुप रही हो रस में, रम जाय वे अपने बस में,
रूप राशि इस वाणिज हृदय सागर की बढ़जाती ।।वृ०।।
अन्धकार उजाला हो जाये, कैसी छल माया मंडराये,
मनुष्य का आगमन कलशों के मिस कहता हो ।।वृ०।।
करुणा के अंतः पर निखरें, पावस आँसू जो हैं बिखरे।
वे मोती बन जाय, मधुकर से लो छलकावो ।।वृ० ।।

उपर्युक्त उद्धरण में ईश्वर के प्रति भक्ति भावना को गीत शैली में नये प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। स्तोत्रकार संगीतात्मक छंद द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है। सामवेद भी गीत प्रधान है, परन्तु उसमें आधुनिक गीतात्मकता नहीं है। आज विभिन्न छंद शैलियों में स्तोत्रों की रचना हो रही है। कुण्डलिया, दोहा, सोरठा, चौपायी, बरवै, हरिगीतिका, इन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता एवं वंशस्थ आदि छंद भी स्तुति के लिए प्रयुक्त होते हैं। अनेकानेक महाकाव्यों एवं खंड काव्यों में आधुनिक छंदों में स्तुतियाँ की गई हैं। ब्रह्मोपासना के मूल में आराध्य के प्रति विनम्रता और लघुता की एक आवश्यकता होती है छंद आदि कैसे भी हों। निम्नलिखित में इसी उद्देश्य की पूर्ति की गई है

मनुष्मानस में तरंगित बहुविचार स्त्रोत,
एक मात्र राम के पुन्यानरुण कर पोते।
नमो नारायण, नमोनर प्रवर पौरुष हेतु,
नमो भारतदेवि, वंदे व्यास, जय के हेतु ।। १

इसमें उसी प्रकार स्तुति की गई है जिस प्रकार ~~इसमें~~ ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद में हुई है। देव-प्रशंसा एवं फल की कामनादि की भावनायें आज के स्तोत्रों में भक्ति भावना में होती है। सामवेद संहिता के इन श्लोकों से और भी बात स्पष्ट हो जाती है:

कनीनो मित्रा वरुणा धुनि जात उरु क्षया ।
पर्वे द भाते अपसम् ।।३।। [2]
एषा: देव: शुभायते ऽधि यो भाव ऽमर्त्य: ।
वृत्रहा देव वीतम: ।।३।। [3]
स्प: बुधी गरीचयत्य ऽमानो धनिजनि ।
पविते मत्सरी मद: ।।५।। [4]

---

१. डा० मैथिली शरण गुप्त : जय भारत पृ० १
२. पं० रामस्वरूप शर्मा: सामवेद संहिता पृ० ३१५
३. वही पृ०३२१
४. वही पृ०३२१

अपने लिए सब प्रकार की शान्ति एवं रक्षा की कामना करते हुए सामवेद का ऋषि इन्द्रादि का आराधन करता है । प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही प्रकार के स्तोत्रों में आराधना पर बल दिया गया है । 'आराधना अर्थात् मन को अपने अनुकूल करने की अथवा शरण में जाने की क्रिया आराधना ~~की~~ के मूल ~~में~~ में यह विश्वास रहता है कि अलौकिक शक्तियों की और व्यक्तियों की रुचि पर इच्छा पर और कृपा पर इष्ट सिद्धि अवलम्बित है । पूजा , स्तवन , नमस्कार , दान श्राद्ध ,जप प्रार्थना , गुण कीर्तन संकीर्तन , भक्ति आदि क्रियाएँ आराधना के अन्तर्गत आती हैं । १

हिन्दी स्तोत्रों के विविध रूप

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि संस्कृत साहित्य की यह स्तोत्र परम्परा क्रमिक रूप में हिन्दी साहित्य में भी अपनाई गई और विभिन्न प्रकार के छंदों द्वारा गुण कथन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया । यद्यपि वैदिक कालीन स्तोत्रात्मक रूप उपलब्ध नहीं है किन्तु उपासना पद्धति में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं आ पाई है । आन्तरिक भावावेश की अवस्था में जीवन के द्रवीभूत रूप का उपस्थितिकरण ही उनका उद्देश्य बन गया है । इस प्रकार हिन्दी के स्तोत्रों के निम्नलिखित रूप हैं ।

१. ~~स्तुति~~ मंगलाचरण
२. वंदना
३. स्तुति
४. प्रार्थना
५. सुमिरिनी
६. विरुद

~~३. स्तुति: इसके विषय में डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है कि 'स्तुति में प्रभु के गुणों का कीर्तन होता है । किसी के गुणों का गान उसके स्वरूप को समझाने में सहायक होता है । अतः स्तुति । गुण कीर्तन । ज्ञान जन्य~~

---

१. पं० लक्ष्मण शास्त्री : हिन्दू धर्म की समीक्षा द्वितीय पुष्प पृ० ३२

१.मंगलाचरण : इसके द्वारा कवि अपने काव्य की सफलता की कामना करता है । वास्तव में मंगलाचरण सकाम भाव से की गई वह स्तुति है जिसमें विनय के साथ साथ भक्त अपने उद्देश्य की पूर्ति भी चाहता है । साहित्यकारों ने काव्यों एवं नाटकों के प्रारम्भ में इसका प्रयोग किया है ।

शास्त्रों में वर्णन आता है "समाप्ति कामो मंगलमाचरेत् ,विघ्न ध्वंसि कामो वा मंगलमा चरेति ।" इसी आधार पर भारतीय संस्कृति के हमारे साहित्यकारों ने ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगल का आचरण किया है । अर्थात् इष्ट देव की वंदना सहित मंगलाचरण का प्रयोग पातञ्जलि ने मंगलाचरण का प्रयोग आदि , मध्य और अंत में माना है । उसने लिखा है "भूवादयो धातवः अष्टाध्यायी में भी आया है " मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्ति शिशास्त्राणि प्रथन्ते वीर पुरुषाणि च भवन्त्या पुष्मत पुरुषाणि च ध्येय तारस्व मंगल युक्त अथा स्युरिति ।"

अर्थात् जिन शास्त्रों के आदि मध्य और अन्त में मंगलाचरण किया जाता है उसका अध्ययन करके लोग आयुष्मान् वीर और कल्याणकारी बनते हैं । इसमें एक बात ध्यान देने की यह है कि प्रत्येक कार्य का कोई फल अवश्य होता है क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहता । शास्त्रों के प्रारम्भ के "मंगल" का भी कोई न कोई फल अवश्य होगा । इसीलिए उनका प्रयोग होता रहा है । फल दो प्रकार के होते हैं ।१। लौकिक ।२। पारलौकिक । अधिक मात्रा में लौकिक फल मिलता है । पारलौकिक की कल्पना उचित नहीं मानी जा सकती । इसीलिए ~~मंगल~~ मंगलाचरण " द्वारा अदृश्य रूप में ग्रन्थ की निर्विघ्न रूप में समाप्ति ही कही जा सकती है । ग्रन्थ रचना और समाप्ति में जो भी विघ्न बाधायें उपस्थित होती हैं उन सबको यह मंगल दूर करते हुए ग्रन्थकारों को सफलता प्रदान करता है । प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष फल की कामना करता है । प्रत्यक्ष फल के सामने प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं होती इसीलिए ग्रन्थ समाप्ति ही "मंगल" का फलमानना उचित है । प्रथावान् व्यक्तियों ने इसका प्रयोग किया है अतः इसका फल समाप्ति होना चाहिए । कहीं कहीं पर एक विशेष बात देखने में

आती है और वह यह है कि "कादम्बरी" आदि ग्रन्थों में अनेक मंगलाचरण किए गये हैं किन्तु ग्रन्थ की समाप्ति नहीं हुई है और किरणावलि आदि आचार्यों के ग्रंथों में इष्ट देव के नमारात्मक मंगलाचरण के बिना ही ग्रन्थ की समाप्ति देखने में आती है। इसीलिए मंगलाचरण से ग्रंथ समाप्ति का कारण नहीं हो पाती है। कोई भी कारण किसी भी कार्य के प्रति कारण रूप से तभी गिना जा सकता है जब तक उसके बिना कार्य न होता हो। जिस प्रकार जुलाहा सूत के कारण पटात्मक कार्य करने में संलग्न होता है और उसके अभाव में उसका कार्य असम्भव हो जाता है उसी प्रकार अन्वय का ऐसे कार्य करने की व्यवस्था हो पाती है। यह सर्व मान्य सिद्धान्त है कभी कभी "मंगल" के रहने पर भी समाप्ति नहीं होती और बिना "मंगल" के समाप्ति हो जाती है। इसका दूसरा रहस्य है। वह यह है कि जहाँ मंगल नहीं और समाप्ति है वहाँ जन्मान्तरी मंगल माना जाता है या विघ्न के न होने से ही से ग्रंथकर्ता ग्रंथ को पूर्ण कर सकता है क्योंकि विघ्नों द्वारा ही मंगल की समाप्ति हो जाती है और जहाँ विघ्न न होंगे वहाँ समाप्ति सरलता से हो जायगी एवं जहाँ मंगल के होने पर भी समाप्ति देखने में नहीं आती उसका रहस्य है। वास्तव में जितनी मात्रा में विघ्न बाधायें हों उससे अधिक मात्रा में मंगलाचरण होना चाहिए और जब अधिक मात्रा में वे प्रयुक्त नहीं हो पाते तभी समाप्ति नहीं हो पाती है। जिस प्रकार बलवत्तर रोगों के लिए प्रचुरतर औषधियों की आवश्यकता होती है और कम के प्रयोग से रोग दूर नहीं हो पाता उसी प्रकार "मंगल" आदि के प्रयोग में भी अधिकता होनी चाहिए॥ यह प्रत्यक्ष सिद्ध अनुभव की बात है॥ इसीलिए "कादम्बरी" आदि ग्रंथों में जितनी मात्रा में "मंगल" होना चाहिए नहीं प्रयुक्त हुए परिणामतः उनकी समाप्ति न हो सकी। मंगलाचरण के विषय में इस प्रकार का विचार विभिन्न संस्कृत काव्य शास्त्र के ग्रंथों में मिलता है।

गोस्वामी तुलसी दास जी ने इसी आधार पर प्रत्येक काण्ड के

प्रारम्भ में नमस्कारात्मक , एवं वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण किए हैं । मंगलाचरण में आशीर्वादात्मक प्रवृत्ति भी होती है जिसके द्वारा कवि अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आशीर्वाद की कामना करता है ।

मंगलाचरण का संस्कृत में मुख्य छंद "अनुष्टुप्" होता है जिसके चारों चरणों में आठ आठ वर्ण होते हैं । प्रत्येक चरण का पंचम वर्ण लघु और छठवां गुरु दूसरे और चौथे चरणों के सप्तम वर्ण भी लघु और पहले तथा तीसरे चरणों के सातवें वर्ण गुरु होते हैं । [1] प्रत्येक छंद के विधान में शुभ गणों का भी ध्यान रक्खा जाता है । गण विचार के पंडितों ने "रगण , सगण , तगण , और जगण " को अशुभ माना है । छन्द प्रभाकर में आया है "दुष्टार शलजा यस्माद् नदीनां विनाशकाः । काव्य स्यादौ न दातव्या इति छन्द विदो जगुः । [2] दोषो गणानां शुभ देव्य वाचे न स्यात्थेमाचार् युत केचे । भाषोत्थ पधेतु विचारणीयो न्यासाद गुरोरेक लघोर नित्यात् ।" [3] इस प्रकार मंगलाचरण के लिए ~~नगण~~ "मगण " को प्रमुख गण माना गया है । तुलसीदास जी ने अपने मंगलाचरणों में इसी का प्रयोग किया है ।

२. वंदना : इसमें ईश्वर का "गुण कथन " प्राय: निष्काम भाव से किया जाता है । भक्त अपने आराध्य का गुणानुवाद कर आत्मिक शान्ति का अनुभव कर लेता है । वास्तव में आशाओं की पूर्ति एवं सम्मान का उपभोग ईश्वर वंदना से ही होता है ।

वंदना की मूल धातु "वन्द " है जिसका तात्पर्य अभिनंदन होता है । आत्मने पदी में इसके रूप "वन्दते , वन्देते , वन्दन्ते । हो जाते हैं । "ल्युट " प्रत्यय लगाकर "वन्दनम् " बन जाता है । यही प्रयोग में "वन्दना " कहलाता है । [4]

---

१. वृत्त बोध १० २. छन्द प्रभाकर .. भानु

३. वही

४. ~~फनस्नित~~ पाणिनि धातु पाठ सिद्धान्त कौमुदी

३. स्तुति : इसके विषय में डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है कि "स्तुति में प्रभु के गुणों का कीर्तन होता है। किसी के गुणों का गान उसके स्वरूप को समझने में सहायक होता है। अतः स्तुति। गुण कीर्तन। ज्ञान काण्ड के अन्तर्गत आ ही जाती है।"[1] प्रायः समस्त वाङ्मय में स्तुतियाँ तीन रूपों में उपलब्ध होती है :

१. आत्म निवेदन के रूप में
२. सकाम भाव के रूप में
३. निष्काम भाव के रूप में

कुछ ऐसी भी स्तुतियाँ है जिसमें भक्त स्तवन के साथ साथ ब्रह्म के रूप के प्रति। जिज्ञासु भी बनता जाता है और विभिन्न आधारों से उसके अनुभव का प्रयत्न करता है। तुलसी की "विनय पत्रिका" आत्म निवेदन सम्बंधी स्तोत्रों की उत्कृष्ट उदाहरण ही है।

४. प्रार्थना : प्रार्थना भी एक प्रकार की स्तुति ही है। यह शब्द संस्कृत की मूल धातु "अर्थ" में "प्र" उपसर्ग लगकर बनता है। "अर्थ" धातु का तात्पर्य है "याचना करना" "प्र" उपसर्ग लगने से "प्रार्थ" शब्द बन जाता है "
प्रत्यय लगाकर इसके रूप "प्रार्थयते" प्रार्थयेते, प्रार्थयन्ते" आदि दशाओं के प्रयुक्त होते हैं। "प्रार्थ" शब्द में ही "ना" को प्रयोग करने से प्रार्थना शब्द की व्युत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार "प्रार्थना" शब्द से किसी प्रकार की याचना करना ही स्पष्ट होता है। डा० मुंशीराम शर्मा ने इसके विषय में लिखा है कि "प्रार्थना में प्रभु के पापों के प्रक्षालन और पुण्य की प्राप्ति के लिए याचना की जाती है। पापमयी दानवता का दमन तथा पुण्यमयी दैवी विभूतियों का समावेश कर्म की अपेक्षा रखते हैं। अनवरत कर्म एवं सतत अभ्यास के द्वारा ही उसकी सिद्धि सम्भव होती है। ज्ञान रूपी लक्ष्य का

---

१. डा० मुंशीराम शर्मा .. भक्ति का विकास पृ० १११

बोध कराता है , यही उस स्थल तक पहुंचाता है और उपासना उस लक्ष्य के उप-कर्ण अर्थात् समीप आसन अर्थात् आसीन कर देती है ।

डा० शर्मा का कथन यथार्थ (हमें सत्य है) भक्त के हृदय में अपने आराध्य के लिए चिरन्तन व्याकुलता रहती है । सूफी लोगों की 'हाल' की अवस्था इसी के अन्तर्गत आ जाती है । प्रार्थना ही भगवद् भक्ति का मूल स्रोत है और भक्त उसी के आश्रय से प्रभु में लीन होता है ।

५. सुमिरिनी : सुमिरिनी ' शब्द संस्कृत की मूल धातु 'स्मृ' से बना है जिसका तात्पर्य है किसी के गुणों का स्मरण करना । यह परस्मैपदी का शब्द है । 'ल्युट' प्रत्यय लगाने से अन् हो जाता है और 'स्मृ' के 'र' का लोप होकर 'अर' हो जाता है । इस प्रकार 'स्मरण' शब्द बनता है । इसी को 'सुमिरिनी' के रूप में इसका आविर्भाव सम्भवत: स्मरणात्मक वर्ग के स्तोत्रों से हुआ है । जैसे प्रात: स्मरण स्तोत्र , विष्णु कृत प्रात: स्तोत्र आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं । स्मरण करने वाला प्रभु के प्रत्येक गुण , सहायता , महत्वादि का स्मरण करता है । प्रार्थना में तो हम कुछ आकांक्षा भी करते हैं पर 'सुमिरिनी' में केवल गुणों एवं कार्यों का ही स्मरण होता है । 'गुण स्मरण' से आवेदक की आत्म तृप्ति हो जाती है । वह अपने आवेदन से किसी बात की कामना नहीं करता प्रभु जिस प्रकार भी चाहें उसे अपनायें ,वह तो उनका स्मरण करता ही रहेगा । नाथ सिद्ध कवियों ने 'ऊँ' एवं 'गुरु' का स्मरण किया है :

'ऊँ गुरु जी श्री गोरखनाथ , योगेन्द्र गुणपति निगम अगम यश गावते ।
श्री शंकर शेष विरंचि शारद नारद बीन बजावते ।
श्री गोरख चरणों प्रणाम्याहं ।[१]

६. विनय : साहित्य भंडार में काव्य को बड़ा ऊँचा स्थान दिया गया है । जिसके बिना मनुष्य नाना कला में निपुण होने पर भी ईश्वर वादी सफल

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी .. नाथ सिद्धों की बानियाँ पृ० ५०

जाता है । ग्रन्थ का गुण कथन अति आवश्यक है । साहित्य दर्पणकार ने "गद्य पद्य मयी राज स्तुति विरुद बुच्यते" कहा है । "विरुद मार्गी मालायें भी इसी प्रकार का लक्षण दिया गया है । गौड़ीय आचार्यों ने कृष्ण की गुण व गरिमा से परिपूर्ण कीर्ति रश्मि का वर्णन किया है । उसमें शब्द योजना, कौशल तथा अद्भुत चामत्कारिक प्रदर्शन के द्वारा मानव समाज में एक अद्भुत रस प्रवाह की सृष्टि की जाती है । विशेषतः इसमें रस मर्यादा एवं भाव गाम्भीर्य अक्षुण्ण रूप में उपस्थित रहता है जो कि अत्यधिक कवित्व का परिचायक है । विरुद लक्षण निम्न लिखित है :

> कलिका श्लोक विरुदैर्युक्ता विविध लक्षणः ।
> कीर्ति, प्रताप, शौर्य, वीर्य सौन्दर्यान्वेष शालिनी ॥
> कालिकाद्यन्त संसर्गी पद्य वाधेय विवर्जिता ।
> शब्दाडम्बर संवद्धा कथ्य विरुदावली ॥ : सामान्य विरुद लक्षणम् ।

श्री रूप गोस्वामी के सामान्य विरुद लक्षण के अनुसार विरुद किम्वा कलिका के अंत में वीर, धीर, श्री लदेव, नायोचित शब्दों का प्रयोग रहना चाहिए ।" वास्तव में यदि चिंतन करके देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि विरुद वास्तव में निष्काम भाव से की गई महान अभिव्यक्ति । देवतादि । की शौर्य प्रशंसा ही होगी । पर स्तोत्र साहित्य के अन्तर्गत आने वाले विरुद केवल ईशोपासना से ही सम्बंधित है, जिसमें हम उसके शौर्य, गुणानुवाद के साथ साथ भावना का भी समर्पण करते हैं ।

<u>निष्कर्ष</u> : इस प्रकार उपर्युक्त निर्धारित विविध स्तोत्र रूपों का आगे चलकर हिन्दी साहित्य में विकास हुआ है । आगे के स्तोत्रकारों ने सामयिक परिस्थितियों के अनुसार ही विभिन्न शैलियों को अपना कर इस परम्परा का उचित निर्वाह किया है । उनकी भक्ति भावना में पूर्व कालिक दैन्य एवं समर्पण के साथ साथ राष्ट्रीयता का भी पुट मिलता है ।